हम एक्सलरेटर पर पैर रख कर जलवायु नरक के राजमार्ग पर हैं

रवि चोपड़ा

1900 तक अमेरिका दुनिया में सबसे बड़े ग्रीनहाउस गैस (जीएचजी) उत्सर्जक देश के रूप में उभरा था। पचास साल बाद, अमेरिका द्वारा किया गया उत्सर्जन यूरोपीय संघ के सभी 27 देशों के उत्सर्जन से ज्यादा हो चुका था। अमेरिकी राष्ट्रपति लिंडन बी. जॉनसन की विज्ञान सलाहकार समिति ने 1965 में ही अमेरिका को जीवाश्म ईंधन उत्सर्जन के हानिकारक प्रभावों के बारे में सावधान कर दिया था।

1970 के बाद से ही वैश्विक पर्यावरणीय स्थितियों में सुधार, प्रकृति की रक्षा और संरक्षण, पृथ्वी पर जीवन के खतरों को कम करने के लिए कई अंतर्राष्ट्रीय संधियों और सम्मेलनों पर सहमति बनाई गई, जिसमें परमाणु हथियार अप्रसार संधि (एनपीटी, 1970), वेटलैंड्स पर रामसर कन्वेंशन (1971), समाप्त होती प्रजातियों में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर कन्वेंशन (सीआईटीईएस, 1975) और सीमा पार लंबी दूरी के वायु प्रदूषण पर कन्वेंशन (एलआरटीएपी) शामिल थे।

1972 में स्टॉकहोम में पहले पृथ्वी शिखर सम्मेलन में हिस्सा लेने वाले देशों ने संयुक्त राष्ट्र के सदस्य देशों से प्रभावित होकर महसूस किया कि वैश्विक पर्यावरण की रक्षा, ग्लोबल वार्मिंग को रोकने और जलवायु पर होने वाले प्रभावों का आंकलन करने के लिए इन समझौतों पर हस्ताक्षर करके और लागू करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय समझौतों की आवश्यकता है। 1977 में, अमेरिकी राष्ट्रपति कार्टर के विज्ञान सलाहकार फ्रैंक प्रेस ने ग्लोबल वार्मिंग की आवश्यकता को समझाते हुए भविष्यवाणी की कि यदि कार्बन डाइऑक्साइड (सीओ2) उत्सर्जन को नियंत्रित नहीं किया गया तो भविष्य में इसके विनाशकारी परिणाम होंगे।

जलवायु परिवर्तन को सीमित करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय वार्ताएं

संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (यूएनईपी) द्वारा ग्लोबल वार्मिंग के मुद्दे को अंतर्राष्ट्रीय एजेंडे में रखा गया। यूएनईपी ने 1988 में विश्व मौसम विज्ञान संगठन (डब्ल्यूएमओ) के साथ मिलकर जलवायु परिवर्तन पर अंतर सरकारी पैनल (आईपीसीसी) की स्थापना की। इसका काम पूरे विश्व में मानव द्वारा किये गये जलवायु परिवर्तन द्वारा हुए परिणामों का आकलन करने के लिए वैज्ञानिक अनुसंधान का समन्वय करना था। यह अब तक छः मूल्यांकन रिपोर्ट तैयार कर चुका है।

रियो पृथ्वी शिखर सम्मेलन (1992) में जलवायु परिवर्तन पर संयुक्त राष्ट्र फ्रेमवर्क कन्वेंशन (यूएनएफसीसीसी) को अपनाया गया था। वर्तमान में 165 देशों सहित 196 पार्टियों ने इस कन्वेंशन पर हस्ताक्षर किए हैं। ये सभी इस संधि में तय लक्ष्यों को पूरा करने के तरीकों पर चर्चा करके जलवायु परिवर्तन से निपटने पर हुई प्रगति की समीक्षा के लिए पार्टियों के सम्मेलन (सीओपी) में सालाना मिलते हैं। क्योटो, पेरिस, ग्लासगो समेत कुछ सीओपी में तो महत्वपूर्ण समझौते भी किए गए।

यह रूपरेखा 'सामान्य परन्तु विभेदित जिम्मेदारियों और संबंधित क्षमताओं' के सिद्धांत पर आधारित है। भारत ने विकासशील देशों को प्रोत्साहित किया कि वे 'सामान्य जिम्मेदारियों' को 'सामान्य लेकिन विभेदित जिम्मेदारियों' से बदल कर रचनात्मक बातचीत पर जोर दें। यह परिवर्तन इस बात पर भी जोर देता है कि सभी देशों ने वर्तमान वायुमंडलीय जीएचजी सांद्रता में समान रूप से सहयोग नहीं किया है। अतीत में समृद्ध देशों ने जीवाश्म-ईंधन आधारित औद्योगिक विकास के लिये इसको बढ़ाने का ही काम किया। इसलिए इन देशों को जीएचजी उत्सर्जन कम करने की प्रमुख जिम्मेदारी लेनी चाहिए और वातावरण व वैश्विक साझा संसाधन को प्रदूषित करने के दंड के रूप में, उन्हें गरीब देशों को उनके उत्सर्जन को कम करने के लिए वित्तीय रूप से मजबूत करना चाहिए। यह कनवेंशन मानता है कि विकासशील देशों के लिये आर्थिक-सामाजिक विकास और गरीबी उन्मूलन इसकी सर्वोच्च प्राथमिकताएं हैं। कन्वेंशन ने 38 पश्चिमी औद्योगिक देशों, जो अब 43 हो गये हैं, इसमें रूस और उसके पूर्व पूर्वी यूरोपीय सहयोगी भी शामिल हैं, जिन्हें सामूहिक रूप से एनेक्स पार्टियां भी कहा जाता है, को वर्ष 2000 तक अपने जीएचजी उत्सर्जन को 1990 के स्तर पर स्थिर करने के लिए प्रतिबद्ध किया था।

क्योटो प्रोटोकॉल (सीओपी 3, 1997)

पार्टियों के पहले सम्मेलन (सीओपी 1, 1995) ने 1992 के यूएनएफसीसीसी लक्ष्य को थोड़ा सरल कर दिया, जिसके तहत एनेक्स पार्टियों को 2000 तक अपने उत्सर्जन को 1990 के स्तर पर स्थिर करने के लिए कहा गया था। 192 पार्टियों ने क्योटो (1997) में वातावरण से जीएचजी सांद्रता को कम करने के लिए क्योटो प्रोटोकॉल, जिसके अनुसार "एक स्तर तक जो जलवायु प्रणाली में खतरनाक मानवजनित (मानवीय) हस्तक्षेप को रोकेगा" को अपनाया था। इसे सभी हस्ताक्षरकर्ताओं द्वारा अनुमोदित करके फरवरी 2005 तक प्रभावी करना था।

क्योटो प्रोटोकॉल ने 2008-2012 की अवधि के भीतर अनुबंधित देशों के द्वारा अपने सामूहिक जीएचजी उत्सर्जन को 5.2 प्रतिशत तक कम करने के लिए कानूनी रूप से मान्य नियम निर्धारित किए हैं। इनमें से नौ अनुबंधित देश अपना जीएचजी उत्सर्जन कम करने में असफल रहे, परन्तु बाकी देशों ने अपने लक्ष्य पूरे किये।

सीओपी 15, 16 और 18

2009 में कोपेनहेगन सीओपी 15 में विकसित देशों ने 2020 तक हर साल विकासशील देशों को जलवायु परिवर्तन के लिए 100 बिलियन अमेरिकी डॉलर देने पर सहमति जताई। 2010 में कैनकन (मेक्सिको) के सीओपी 16 में इस लक्ष्य को औपचारिक रूप दिया गया। साथ ही यह भी तय हुआ कि भविष्य में वैश्विक तापमान वृद्धि को पूर्व-औद्योगिक स्तर के सापेक्ष 2 डिग्री सेल्सियस से कम तक सीमित रखा जायेगा। 2012 में दोहा सीओपी 18 सम्मेलन में क्योटो प्रोटोकॉल के लिए दूसरे चरण यानी 2013-2020 को परिभाषित कर दिया गया।

पेरिस समझौता (सीओपी 21, 2015)

पेरिस सीओपी देशों ने विकासशील देशों को समर्थन देने और जलवायु परिवर्तन से निपटने के लिए अपने द्वारा किये जाने वाले कार्यों और निवेशों में तेजी लाने पर सहमति व्यक्त की। यह नवंबर 2016 से लागू हुआ। पेरिस समझौते का मूल लक्ष्य था 21वीं सदी के वैश्विक तापमान वृद्धि को पूर्व-औद्योगिक स्तर से 2 डिग्री सेल्सियस से कम रखना और वृद्धि को 1.5 डिग्री सेल्सियस तक सीमित करके जलवायु परिवर्तन के खतरे को कम करना। विभिन्न समझौतों द्वारा पार्टियां विकासशील और सबसे कमजोर देशों के लिए पर्याप्त धन, प्रौद्योगिकी और क्षमता निर्माण जुटाने पर सहमत हुईं। वे 21वीं सदी की शुरूआत में जीरो नैट उत्सर्जन के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जीएचजी सिंक (महासागर, मिट्टी, जंगल) के संरक्षण और विस्तार पर भी सहमत हुए।

सभी पार्टियां "राष्ट्रीय स्तर पर निर्धारित योगदान" (एनडीसी) के माध्यम से अपने प्रयासों को परिभाषित करके भविष्य में जलवायु संबंधी आपदाओं को कम करने के लिए राष्ट्रीय जलवायु परिवर्तन अनुकूलन योजनाएं तैयार करने पर भी सहमत हुईं।

सीओपी 25 (2019), मैड्रिड : अक्टूबर 2018 आईपीसीसी रिपोर्ट में बताये 1.5 डिग्री सेल्सियस ग्लोबल वार्मिंग के बढ़ते खतरे के बावजूद, सीओपी 25वें कन्वेंशन ने कार्बन बाजारों और उत्सर्जन में कटौती के फैसले को ग्लासगो में होने वाले अगले सम्मेलन तक स्थगित कर दिया। संयुक्त राज्य अमेरिका, रूस, भारत, चीन, ब्राजील और सऊदी अरब ने इस प्रस्ताव का विरोध किया था।

हालाँकि, यूरोपीय संघ (ईयू) के राष्ट्र यूरोपीय ग्रीन डील में दस विशिष्ट उपायों पर सहमत हुए ताकि 2050 तक जलवायु तटस्थ अर्थव्यवस्थाओं और जीरो नैट जीएचजी उत्सर्जन के लक्ष्य को प्राप्त कर सकें। वे इस बात पर भी सहमत हुए कि 2030 में जीएचजी उत्सर्जन में 50-55 प्रतिशत की कटौती करने का प्रयास करेंगे जो पहले 40 प्रतिशत तय था।

सीओपी 26 (2021), ग्लासगो : कोविड-19 महामारी के कारण एक साल की देरी से, सीओपी 26 ग्लासगो ने जलवायु समझौते पर आम सहमति हासिल की। इसने पार्टियों के सामने कोयला बिजली उत्पादन के उपयोग को चरणबद्ध तरीके से समाप्त करने का प्रस्ताव रखा। लेकिन भारत और चीन के हस्तक्षेप ने 'चरणबद्ध समाप्ति' को 'चरणबद्ध कमी' में बदल दिया। इस संधि ने जलवायु परिवर्तन के अनुसार ढलने के लिये विकासशील देशों को अधिक धन देने के वादे को भी नवीनीकृत किया।

कुछ सफलताएं अनेक असफलताएं

ग्लोबल वार्मिंग के खतरों को कम करने के लिए वैश्विक वार्ता पिछले तीन दशकों से अधिक समय से प्रगति पर है। लेकिन तेजी से बढ़ता तापमान और चरम मौसम की घटनाओं में लगातार वृद्धि अब तक की वैश्विक कार्यवाहियों की विफलता को ही दर्शाती हैं। संयुक्त राष्ट्र महासचिव, एंटोनियो गुटेरेस ने 2022 सीओपी 27 सम्मेलन की शुरुआत अपने निराशापूर्ण वक्तव्य से करते हुए कहा, "हम एक्सलरेटर पर पैर रख कर जलवायु नरक के राजमार्ग पर हैं।"

छठी आईपीसीसी आकलन रिपोर्ट (2023) ने यूएनएफसीसीसी पार्टियों के साथ पूरे विश्व को गंभीरता से सूचित किया कि जलवायु परिवर्तन की स्थिति बिगड़ रही है। इस रिपोर्ट में चेताया गया कि ग्लोबल वार्मिंग 1.5 डिग्री सेल्सियस के चरम बिंदु के बहुत नजदीक है। रिपोर्ट में यह भी कहा गया कि 2022-2027 की अवधि में औसत वार्षिक वैश्विक तापमान वृद्धि कम से कम एक बार पूर्व-औद्योगिक युग के स्तर से 1.5 डिग्री सेल्सियस ऊपर के खतरे के निशान को छू जाएगी।

ऐसा क्यों हुआ कि यूएनएफसीसीसी पार्टियां अपने द्वारा निर्धारित लक्ष्यों को पूरा करने में विफल रही हैं ?

इसका मुख्य कारण है कि शक्तिशाली औद्योगिक राष्ट्र, जो मुख्य प्रदूषक हैं, घरेलू राजनीतिक चिंताओं और राष्ट्रीय हितों को वैश्विक हितों से ऊपर रखते हैं। भले ही राष्ट्रपति क्लिंटन ने क्योटो प्रोटोकॉल पर हस्ताक्षर किए, पर कॉन्सर्वेटिव अमेरिकी विधायकों ने यह जताया कि इसकी पुष्टि नहीं हुई है और राष्ट्रपति बुश ने 2001 में अमेरिका को क्योटो प्रोटोकॉल को वापस ले लिया। 2012 में कनाडा भी पीछे हट गया क्योंकि वह भी अपने लक्ष्य को पूरा नहीं कर पाया था और वो लगभग 12 बिलियन अमेरिकी डॉलर का अपेक्षित जुर्माना अदा करने को भी तैयार नहीं था। जापान, न्यूजीलैंड और रूस ने दूसरे चरण के क्योटो प्रोटोकॉल के लक्ष्यों को स्वीकार नहीं किया। बेलारूस, कजाकिस्तान और यूक्रेन ने कहा कि वे या तो प्रोटोकॉल से हटेंगे या दूसरे दौर में प्रस्तावित लक्ष्यों को कानूनी रूप से लागू नहीं करेंगे।

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, जो उस समय दुनिया का दूसरा सबसे बड़ा उत्सर्जक था, के पूर्व राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रम्प पेरिस समझौते से पीछे हट गए। अमेरिका ऐसा करने वाला दुनिया का इकलौता देश था। सौभाग्य से, राष्ट्रपति बिडेन के नेतृत्व में संयुक्त राज्य अमेरिका फिर से इस समझौते में शामिल हो गया।

विफलता का दूसरा मुख्य कारण यूएनएफसीसीसी पार्टियों द्वारा उनकी लक्ष्य को पूरा करने की अनिच्छा रही। प्रस्तावित दंडों को मानने में भी इन देशों का सहयोग नहीं मिला। उल्टा, नियमों में और ढील दे दी गयी एवं लक्ष्यों को पूरा न करने वाले देशों को कम आर्थिक दंड देने के सरल रास्ते भी उपलब्ध कराए गये। नौ अनुबंधित देशों ने अपनी जीएसजी उत्सर्जन लक्ष्य को पूरा करने की 'कानूनी बाध्यता' को बढ़ा दिया। दंड से बचने के लिए, उन्होंने दूसरे देशों में उत्सर्जन की कमी को पूरा करने के लिये आर्थिक सहयोग के बहाने स्वच्छ विकास के लिये 'कार्बन ऑफसैट यूनिट' खरीद ली।

अंतर्राष्ट्रीय जलवायु वार्ताओं का पूरा ध्यान किए इन नए प्रयासों का आकलन करने के बजाय भविष्य के लिए लक्ष्य निर्धारित करने पर रहा। आमतौर पर राजनेता की इच्छा भविष्य के लिये योजनायें बनाने में ही होती है क्योंकि उनका भविष्य उनके निर्वाचित कार्यालय की अवधि तक ही सीमित होता है। ये राजनीतिक खेल तब तक जारी रहेंगे, जब तक कठोर दंड निर्धारित और लागू नहीं किए जाते और प्रकृति द्वारा लिये क्रूर प्रतिशोध को नज़रअंदाज करना असंभव नहीं हो जाता।

विकासशील देश विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय समझौतों में जलवायु न्याय की अपनी मांगों को कायम रखने में सक्षम रहे हैं। विकासशील देश भारत की क्षमता और अपनी संख्यात्मक शक्ति के कारण भी विभिन्न मंचों पर आंशिक रूप से अपनी मांगों को स्पष्ट रखने में सफल रहे लेकिन विकसित देश लंबी वार्ताओं में बहुमत के प्रस्तावों को स्वीकार तो कर लेते हैं, पर उन्हें पूरा करने की प्रतिबद्धता नहीं दिखाते हैं। 2009 सीओपी 15 का सालाना 100 बिलियन अमेरिकी डॉलर जुटाने का लक्ष्य अधूरा रह गया। पेरिस सीओपी 21 में इस पर फिर से बातचीत की गई और फंड का संग्रह 2025 तक के लिए स्थगित कर दिया गया। संयुक्त राज्य अमेरिका और यूरोपीय संघ-राष्ट्रों के ऊपर औद्योगिक देशों में 2007-2008 के बैंकिंग संकट से उबरने की धीमी गति, राष्ट्रीय वित्त पर अप्रत्याशित कोविड-19 से पड़ा दबाव और यूक्रेन युद्ध ने अप्रत्याशित वित्तीय बोझ डाला।

2021 में, सभी स्रोतों से, पांच सबसे अधिक जीएचजी उत्सर्जक देश-चीन (सर्वोच्च), अमेरिका, भारत, रूस और ब्राजील ने वैश्विक उत्सर्जन का 50 प्रतिशत से अधिक उत्पादन किया। चूंकि चीन और भारत ने जीएचजी उत्सर्जन के मामले में अन्य देशों की वृद्धि को पीछे छोड़ दिया, इसलिये औद्योगिक देशों ने बड़े उत्सर्जक के रूप में अपने से ध्यान हटाकर चीन और भारत के ऊपर ध्यान केंद्रित करना शुरू कर दिया।

लेकिन औद्योगिक देश अभी भी प्रति व्यक्ति आधार पर भारत और चीन से आगे हैं। आंकड़ों को अगर प्रति व्यक्ति आधार पर घटते क्रम में देखा जाए तो संयुक्त राज्य अमेरिका (17.58 टन सीओ2 समकक्ष इकाइयां), रूस (16.62 टन), ब्राजील (10.03 टन), चीन (9.62 टन), भारत (2.77 टन) हैं। जबकि विश्व औसत लगभग 6.5 टन है। 2001 में आईपीसीसी ने दावा किया था कि 2050 तक "खतरनाक मानव-प्रेरित जलवायु परिवर्तन" को रोकने के लिए वैश्विक औसत प्रति व्यक्ति उत्सर्जन को केवल 1 टन सीओ2ई (टनों सीओ2 के बराबर) उत्सर्जन तक लाना होगा। पेरिस सीओपी के बाद विभिन्न राष्ट्रों द्वारा परिभाषित राष्ट्रीय स्तर पर निर्धारित योगदान को देखते हुए इस लक्ष्य के पूरा होने की कोई संभावना नहीं है।

भारत में जलवायु राजनीति

सेंटर फॉर साइंस एंड एनवायरनमेंट (1991) के अनिल अग्रवाल और सुनीता नारायण के महत्वपूर्ण पेपर "ग्लोबल वार्मिंग इन एन अनइक्वल वर्ल्ड" ने भारत की प्रारंभिक जलवायु राजनीति को रूप दिया। उसके बाद दशकों तक, भारत की जलवायु नीति पूरी तरह से जलवायु न्याय के लिए अपने अंतर्राष्ट्रीय प्रयासों पर केंद्रित रही। वर्ष 2000 में भारतीय विज्ञान संस्थान के अमूल्य रेड्डी ने 135 से अधिक देशों के डेटा का विश्लेषण किया। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि 2.5 टीसीओ2ई का प्रति व्यक्ति औसत उत्सर्जन निरक्षरता, शिशु मृत्यु दर, महिला प्रजनन क्षमता में कमी और जीवन प्रत्याशा में वृद्धि जैसी प्रमुख वैश्विक विकासात्मक समस्याओं को हल कर सकता है।

2001 से 2010 के बीच, अंतर्राष्ट्रीय जलवायु-संबंधित आर्थिक सहायता के माध्यम से स्वच्छ विकास तंत्र जैसे उपायों की उपलब्धता ने भारतीय जलवायु नीति-निर्माताओं को ग्लोबल वार्मिंग प्रभावों से निपटने के उपायों पर ध्यान केंद्रित करने के लिए प्रेरित किया। उद्योग संघ, भारतीय उद्योग परिसंघ (सीआईआई) और प्रभावशाली एनजीओ, टाटा एनर्जी रिसर्च इंस्टीट्यूट (टीईआरआई) आदि ने इस बदलाव को प्रोत्साहित किया। भारत ने 2005 में अन्य सभी देशों की तुलना में अधिक सीडीएम परियोजनाएं सृजित कीं।

2007 में, ग्रीनपीस-इंडिया ने 'हाइडिंग बिहाइंड द पुअर' नाम से एक रिपोर्ट प्रकाशित कि जिसमें विभिन्न आय स्तर वाले 819 भारतीय परिवारों के डेटा शामिल किया गया। इस रिपोर्ट ने देश में जलवायु असमानता पर प्रकाश डाला। इससे पता चला कि सबसे अमीर 10 मिलियन भारतीयों (2007 की जनसंख्या का 0.88 प्रतिशत) का कार्बन फुटप्रिंट 4.97 टीसीओ2ई था, जो 2007 के वैश्विक औसत के बराबर है। यह उस समय के 432 मिलियन सबसे गरीब भारतीयों के औसत का लगभग पांच गुना था। इसके अलावा, 2007 में 307 मिलियन गैर-गरीब भारतीयों का औसत कार्बन फुटप्रिंट 823 मिलियन गरीब भारतीयों के औसत से दोगुना था।

भारत में ऊर्जा के उपयोग करने के तरीके बेहतर हुए है और 2007 से 2021 के बीच ऊर्जा के नये विकल्पों में बढ़ोतरी हुई है। परन्तु जीडीपी (158 प्रतिशत) और जनसंख्या (18 प्रतिशत) की तीव्र वृद्धि के कारण जीएचजी उत्सर्जन में भारत दुनिया का तीसरा सबसे बड़ा देश बन गया। इस कारण भारत पर अपने उत्सर्जन को कम करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय दबाव बढ़ गया है। हेज़्ड्र्स सेंटर (2014) में दुनु रॉय और उनके सहकर्मियों द्वारा "अ सबल्टर्न व्यू ऑफ क्लाइमेट चेंज" नाम से एक रिपोर्ट प्रकाशित हुई जिसके अनुसार भारत में कार्बन बोझ के वितरण को अधिक न्यायसंगत बनाने की बात कही गयी। इसके अनुसार अगर भारत को अपने 800 मिलियन से अधिक गरीबों को गरीबी से बाहर निकालना है तो इसके राष्ट्रीय उत्सर्जन को बढ़ने से रोकना असंभव होगा।

जलवायु-अनुकूलन की ओर बढ़ता उत्तराखंड

आम तौर पर अंतर्राष्ट्रीय स्तर में अधिकांश पर्वतीय क्षेत्रों को अन्य क्षेत्रों की तुलना में जलवायु संबंधी आपदाओं के प्रति अधिक संवेदनशील माना जाता है। उत्तराखंड की सभी राज्य सरकारों ने इसके पहाड़ी चरित्र को नजरअंदाज करते हुए औद्योगीकरण और जीवाश्म ईंधन से संचालित आर्थिक विकास के राष्ट्रीय मॉडल को बढ़ावा दिया है, जिस कारण पिछले कुछ दशकों में जलवायु परिवर्तन के कारण होने वाली से आपदाओं में वृद्धि हुई है।

उत्तराखंड के लोगों को पर्वतीय पर्यावरण के अनुरूप राष्ट्रीय आर्थिक विकास मॉडल के बजाय हरित विकास मॉडल को अपनाना चाहिये, जो यहां के लिये अधिक टिकाऊ और न्यायसंगत होगा। इसके लिए जरूरी है कि प्राकृतिक संसाधनों का विकेन्द्रीकरण हो तथा प्रबंधन, आपदा प्रबंधन की योजना और उसके कार्यान्वयन की स्पष्ट रूपरेखा बने। इसके लिये मुख्य विकल्प के तौर पर इन बातों को अपनाया जा सकता है : समुदायों के नेतृत्व में होने वाले वन संरक्षण को प्राथमिकता दी जाये; पेड़ों और वनों की कटाई को रोका जाये; वनरहित क्षेत्रों का वनीकरण किया जाए और जंगल की आग का बेहतर प्रबंधन हो; राज्य की उपजाऊ मिट्टी, पानी और जैव विविधता वाले संसाधनों की सुरक्षा की जाए; बांध और सड़क चौड़ीकरण जैसी खतरनाक परियोजनाओं को रोका जाये, शहरी क्षेत्रों में जनसंख्या दबाव कम करने के लिए आर्थिक गतिविधियों को फैलाया जाये; फसलों के लाभकारी मूल्य निर्धारित करके कृषि को बढ़ावा दिया जाये; भूतिया गांवों को फिर से बसाया और ढलानों को स्थिर किया जाये।

जलवायु परिवर्तन से होने वाली संभावित आपदाओं को कम करने के लिए उपरोक्त विकल्प आवश्यक हैं। लेकिन वायुमंडलीय कार्बनडाइऑक्साइड को भौगोलिक सीमाओं में बांटा नहीं जा सकता है। महत्वपूर्ण परिवर्तन वैश्विक स्तर पर होने चाहिए और इसके लिए दुनिया भर में आर्थिक विकास को डीकार्बोनाइज़ करने की आवश्यकता होगी।

अंत में

अब समय आ गया है कि हम गांधी जी के अनावश्यक उपभोग को कम करने वाले संदेश पर ध्यान दें। दुनिया भर में कम विकसित लोग ग्रीनहाउस गैसों का उत्सर्जन कम करते हैं और उनका जीवन सरल और स्वस्थ है। हाल ही में मेगा-अंतर्राष्ट्रीय आयोजनों के दौरान 'जीवनशैली में बदलाव' का आह्वान किया गया। हालांकि इस समय में यह सब व्यर्थ लगता है।